पेरिस
१४ नवम्बर, २००६

संदेश संख्या – १७८

शब्दार्थ बनाम मर्मार्थ

पश्चिमी देशों के कुछ क्रियावानों ने एक भारतीय क्रियावान से पूछा कि संदेश १७७ में क्रियावानों के लिए प्रस्तावित मंत्र का शाब्दिक अनुवाद क्या है? दुर्भाग्य से, हमलोग केवल ''बौद्धिक प्रयास'' की सत्ता में विश्वास करते हैं न कि प्रज्ञापूर्ण समझदारी की सत्यता में । हमलोग केवल चित्तवृत्ति में रुचि रखते हैं न कि चैतन्य में ।

''गुरुदेवो चरणम्'' का 'शब्दार्थ है–गुरु को भगवान जैसा ही माना जाना चाहिए, तथा गुरु के गंदे चरणों में भी अपना भ्रांत सिर झुकाना चाहिए।

लेकिन गुरु–प्रक्रिया में (न कि व्यक्तित्व में), गुरु के अन्तर्जगत में द्वैत के विलय के साथ भगवत्ता का उदय हो चुका है । अतः सुझाव यह है कि समर्पण की प्रक्रिया द्वारा गुरु के अस्तित्व में उपलब्ध अखण्ड और ''मैं–रहित चैतन्य'' के प्रति उपलब्ध हों । इसी में वास्तविक समझदारी है । लेकिन ''मैं'' सत्ता के प्रति झुकने का अभ्यस्त है, अतः 'शाब्दिक अर्थ' की माँग करता है ।

''क्रियावानों परमम्'' का शब्दार्थ हो सकता है–''क्रियावानों का माफियातंत्र गठित करो''।

सर्वत्र यही हो रहा है । धर्म और अध्यात्म के नाम पर समस्त प्रकार के सम्प्रदाय और पंथ गठित किए जाते हैं जो परस्पर झगड़ते रहते हैं । लोगों में समझदारी नहीं, जानकारी हैं, संघर्ष हैं । उनके बीच जीवन नहीं है, प्रेम नहीं है, वे केवल मन के गड्ढे में गिरकर सड़ रहे हैं ।

लेकिन क्रियावानों के लिए इसका जो मर्मार्थ है, वह है – ''क्रियावानों के बीच प्रेम–ऊर्जा का संचार होता रहे क्योंकि वे सभी समझदारी की ऊर्जा में प्रस्फुटित हो रहे हैं ।''

''अध्यात्मो स्मरणम्'' का शब्दार्थ है – धार्मिक ग्रन्थों, जैसे कि बाईबिल, कुरान, वेद, धम्मपद् आदि का पाठ करो या अध्यात्मिक बाजार की मूर्खतापूर्ण पुस्तकें पढ़ो ।

लेकिन इसका मर्मार्थ है – अन्तर्जगत के जीवन्त ग्रंथ पढ़ो । ''मैं–पना'' की गतिविधि को द्रा और दृश्य में विभाजित हुए बिना देखो । यह विभाजनरहित होश, तुम्हारे अन्तर–अस्तित्व में मौलिक परिवर्तन लाएगा। यह मौलिक परिवर्तन ''मैं'' से मुक्ति द्वारा होता है न कि इस प्रदूषण ''मैं'' के पुनर्निर्माण या इसमें केवल बाहरी परिवर्तन द्वारा ।

कृपया शिवेन्दु को बौद्धिक तल पर अर्थात् मन की धोखेबाजी और पाखण्ड के साथ मत सुनें, अपितु उन्हें जीवन से सुनें ।

१. ''मैं–पना'' के मिथ्यात्व का जब तक ज्ञान नहीं होता तब तक अनुभव भ्रान्ति उत्पन्न करता रहता है । 'स्व' अर्थात् ''मैं'' के जानने के बाद अनुभवों का मानसिक पंजीकरण और मानसिक अवशेषों एवं अवसादों का संचय नहीं होता ।
२. प्रतिक्षण ''मै'' के कार्य करने के विभिन्न तरीकों, उसके उद्देश्यों एवं लक्ष्यों, उसके विचारों एवं वासनाओं को जानना ही 'स्व' को जानना है।
३. ''मैं'' सदैव भ्रान्ति में जीना चाहता है क्योंकि उसमें उसके लालच का तुीकरण होता है तथा वह भ्रान्ति सुख का आभास देने वाली और श्रेष्ठता की अहं–भावना उत्पन्न करने वाली होती है ।
४. अधिकांश लोग संस्था, उसकी धन–सम्पति, उसके विधि–विधान, उसके व्रत–नियम तथा सदस्य–समूहों का निर्माण कर 'जो है' यानी कि यथार्थ से दूर रहना चाहते हैं । और कुछ लोग जो धूर्त्त एवं चालाक होते हैं वे नेता बन जाते हैं, मध्यस्थ बन जाते हैं या ङ्गिर, इस भ्रांति के प्रतिनिधि।
५. हमलोगों में से अधिकांश शोषण करना और शोषित होना पसन्द करत हैं। संस्थायें और उसके अधिकारी – तन्त्र शोषण की विधि बताते हैं, चाहे वह छद्म रूप में हो या स्प रूप में।
६. हमलोग 'कुछ नहीं' होने के भय से बचने के लिए कुछ बनना चाहते हैं । हमलोग कुछ नहीं है । मन मिथ्या है, यद्यपि तकनीकी दुनिया में यह उपयोगी है । कुछ विशि बनने के लिए ही हमलोग विभिन्न संस्थाओं, विचारधाराओं, चर्चों और पंथों आदि से जुड़ जाते हैं और इस तरह हमलोग शोषित होते है और बदले में, हम दूसरों का भी शोषण करते हैं।
७. जीवन के किसी भी स्तर पर आसक्ति द्वन्द्व उत्पन्न करती है और द्वन्द्व से बचने का प्रयास द्वन्द्व को ही बढ़ाता है, चाहे वह अन्तर्जगत में हो या बहिर्जगत में ।
८. आसक्ति के प्रति समझ ''मैं'' की गति के प्रति सतत् सजगता द्वारा आती है । और यह सजगता अन्तर्जगत के द्वैत की समाप्ति पर ही होती है । अद्वैत के प्रति आन्तरिक सजगता वस्तुतः दुष्कर है किन्तु यही यथार्थ गुरु–प्रक्रिया है । बाहरी सत्ता शक्ति उत्पन्न करती है और शक्ति हमेशा अपवित्र होती है । शक्ति न केवल शक्ति धारण करने वाले को अपवित्र करती है अपितु उसके अनुयायियों में भी मद उत्पन्न करती है । जानकारी और अनुभव से अर्जित सत्ता भी विकृत हो सकती है।
९. 'स्व' की समझदारी प्रज्ञा के उदय का प्रारम्भ है । प्रज्ञा का और कोई मार्ग नहीं है । प्रज्ञा हमेशा नवीन और ताजी होती है तथा उसे संचित करने का कोई साधन नहीं है । जिसे अभिव्यक्त या संचित किया जा सकता है, वह खण्डित होता है। वह सत्य, आनन्द, जीवन या प्रज्ञा की पूर्णता नहीं हो सकता । पूर्णता अर्थात् अपरिमेय, अनाम, अज्ञेय और अनभिव्यक्त, सदैव प्रज्ञा की प्रशान्ति में ही सम्भव है ।

।। जय अनभिव्यक्त ।।